पश्चिमी स्वप्नलोक की हक़ीक़त

• शिशिर

पूँजीवादी व्यवस्था और उसका पूँजीवादी जनवाद हमेशा कुछ ऐसी शख़्सियतों को जन्म देता है जो उसकी ही आलोचना करे। कोई भी व्यवस्था ऐसे ही काम करती है। वह अपने आपको बेदाग़ नहीं दिखाती। और वह चाहती है कि उसकी दाग़ों की आलोचना कोई व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर रहकर करे। यदि ऐसा कोई नहीं करता तो वह स्वयं ऐसे लोगों को नियुक्त करती है जो उसकी आलोचना करें। यह जनवाद के भ्रम को बरक़रार रखने में काफ़ी कारगर साबित होता है। कई बार ऐसे लोग व्यवस्था के ही टुकड़खोर होते हैं जो व्यवस्था की आलोचना करते हुए कोई विकल्प नहीं सुझाते और कहते हैं कि इसी व्यवस्था में सुधार की गुंजाइश है। कई बार ऐसा भी होता है जब ऐसे आलोचक व्यवस्था के दलाल नहीं बल्कि स्वतंत्र और ईमानदार बुद्धिजीवी होते हैं जिनके पास कोई दृष्टि नहीं होती और न ही कोई विकल्प होता है।

ऐसे ही एक आलोचक हैं फ्रांस के फ्रांकोआ दि क्लोसेस। आज से करीब पच्चीस वर्ष पहले क्लोसेस की एक किताब आई–*तूज्यूर प्लस!* (हमेशा ज़्यादा!) इस किताब ने प्रकाशन के इतिहास में कई नये कीर्तिमान कायम कर दिये। इस किताब की 15 लाख प्रतियाँ बिकीं। किसी भी गैर-कथात्मक विषय की किताब के लिए यह संख्या आश्चर्यजनक थी। यह किताब फ्रांस के सामाजिक हालात का ब्योरा सामने रखते हुए यह बताती है कि जिस फ्रांस ने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे को जन्म दिया था, आज उसी देश में ये शब्द खोखले साबित हो रहे हैं और उपहास का विषय बन रहे हैं। अपनी तीखी शैली में क्लोसेस ने बताया कि फ्रांस में मेहनतक़श ग़रीबों की क्या स्थिति है और मुट्ठीभर कुलीनों की क्या स्थिति है।

इसके करीब पच्चीस वर्ष बाद अब क्लोसेस की नयी किताब आई है जो उसी किताब का अगला भाग है–*प्लस एनकोर! (और ज़्यादा!)* यह किताब भी प्रतिदिन 8000 प्रति की तादाद में बिक रही है। इस बार क्लोसेस ने समकालीन फ्रांसीसी समाज की कलई खोल दी है। क्लोसेस बताते हैं कि फ्रांस आज बढ़ते अपराध, बढ़ती बेरोज़गारी, धीमे विकास, धार्मिक कट्टरपंथ, महंगी होती स्वास्थ्य सेवाओं की समस्या, अपर्याप्त पेंशन, नस्लवाद, प्रवासियों के दयनीय हालात, और शहरी ग़रीबी से जूझ रहा है। मन्दी की स्थिति भयंकर है जो मुद्रास्फीति और बेरोज़गारी को जन्म दे रही है। फ्रांस का शासक वर्ग स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के जिस नारे की बदौलत जनता के विश्वास को कायम रखता आया है वह नारा फ्रांस की बहुसंख्यक जनता को अब एक पाखण्ड लगता है। क्लोसेस स्वयं बताते हैं कि फ्रांस न सिर्फ़ अमीर, मध्यवर्ग और ग़रीबों में तीखे तौर पर बँट चुका है बल्कि एक ताकतवर हित समूह पैदा हो गये हैं जो ऐसे बोनस और विशेषाधिकार हासिल कर चुके हैं जिसके आँकड़े किसी भी सरकारी काग़ज़ात में नहीं मिलते। क्लोसेस पूँजीवादी राष्ट्रवाद की पोल खोलते हुए बतलाते हैं कि जो शासक वर्ग राष्ट्रवाद की दुहाई दे-देकर जनता को संकट के मौकों पर गोलबन्द करता है वह राष्ट्र के हितों के सबसे ख़िलाफ़ है। वह अपने हितों के लिए राष्ट्रीय भलाई को दाँव पर लगाने से कभी नहीं चूकता। आज के समय में इस शासक वर्ग ने फ्रांसीसी समाज पर अपनी जकड़बन्दी और मज़बूत कर ली है। क्लोसेस द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समृद्धि के दौर से नवउदारवाद के दौर की दरिद्रता तक की कहानी के पीछे का मर्म बताते हुए कहते हैं कि यह संक्रमण सामाजिक भलाई पर निजी हितों की विजय के कारण हुआ है। दरअसल, यह क्लोसेस का 'कल्याणकारी राज्य' के प्रति नॉस्टैल्जिया ही है जिसके कारण वे नवउदारवादी नीतियों को कोसते हैं और वेल्फेयर स्टेट के दौर की समृद्धि को याद करते हैं। वह नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर के पूँजीवाद की तीखी और आँख खोल देने वाली आलोचना करते हैं और उसे अलफ़ नंगा करके छोड़ देते हैं लेकिन इसके विकल्प के तौर पर वह जिस दौर को याद करते हैं वह है द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद का कींसियाई नुस्खे पर बना कल्याणकारी राज्य। क्लोसेस यह नहीं समझ पाते कि वह दौर अब वापिस नहीं लौट सकता। पूँजीवाद कल्याणकारी राज्य को अब अफ़ोर्ड नहीं कर सकता। पूँजी की नैसर्गिक गति और मुनाफ़े की हवस और राजसत्ता पर पूँजीपति वर्ग के कब्ज़े के कारण हमेशा ही सार्वजनिक हितों का क्रमिक परित्याग होता है और खुली लूट वाले नंगे, फासीवादी पूँजीवाद की ओर संक्रमण होता है।

क्लोसेस कहते हैं कि जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ते हुए उभरा फ्रांस एक समानता और न्याय प्रिय फ्रांस था और आज यह स्थिति एकदम बदल गयी है। पूँजीवाद के संकट के दौर में फासीवाद का उदय हुआ था। 1930 के दशक में मन्दी और अतिउत्पादन के कारण पैदा हुई तबाही और अराजकता और एकाधिकारीकरण ने पूँजीपति वर्ग को लोकतंत्र और जनवाद का मुखौटा फेंककर फासीवादी मुखौटा पहनने पर विवश कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फासीवाद का अस्त होता है और कल्याणकारी पूँजीवादी राजसत्ताओं का उदय होता है। यह पुनर्निर्माण का दौर था। लेकिन विश्वयुद्ध से हुए विनाश की भरपाई होते ही विश्व पूँजीवाद एक बार फिर अतिउत्पादन और मन्दी की चपेट में आने लगा और पूरे विश्व में एक बार फिर जनवादी मूल्यों का ह्रास शुरू हुआ और भूमण्डलीकरण के दौर के जुआरी और सट्टेबाज़ पूँजीवाद के दौर में तो यह प्रक्रिया और भी तेज़ हो गयी है। क्लोसेस यह नहीं समझ पाते कि यह पूँजीवाद की स्वाभाविक गति है और सवाल इसके सुधार नहीं बल्कि इसके उन्मूलन का है।

ख़ैर, फिर भी क्लासेस यह तो दिखला ही देते हैं कि पश्चिमी दुनिया के प्रोजेक्टेड वैभव के पीछे भी एक अन्धेरी दुनिया है। जिस भूमण्डलीकृत उन्नत नवउदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था का सपना हमें जन्नत के सपने के तौर पर दिखाया जाता है, उसकी असलियत को क्लोसेस उघाड़कर रख देते हैं। आज फ्रांस की युवा आबादी का 13 प्रतिशत हिस्सा ग़रीब माना जाता है। फ्रांस में प्रवासियों को अक्सर नस्लवादी हिंसा का शिकार होना पड़ता है। अक्सर ही भयंकर बेरोज़गारी से त्रस्त नौजवान सड़कों पर उतर पड़ते हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि आम आदमी की पहुँच से बाहर होती जा रही है। लेकिन कुल मिलाकर यह पूँजीवाद की एक पूँजीवादी आलोचना है जो किसी सन्त पूँजीवाद की अभिलाषा करती है।

एक बात बिल्कुल साफ़ है। शिखर पर बैठे देशों में भी वर्ग विभेदीकरण और ध्रुवीकरण बेहद तीखा हो चुका है। साम्राज्यवादी देशों में भी स्थितियाँ काफ़ी तनावपूर्ण बन रही हैं। ऐसे में कोई ताज्जुब नहीं होगा यदि इन देशों में भी स्वतःस्फूर्त युवा और मज़दूर आन्दोलनों का सैलाब सड़कों पर उतरना शुरू कर दे, जैसा कि हाल ही में फ्रांस की सड़कों पर नौजवानों के उतरने और विलपाँ-शिराक सरकार को रोज़गार कानून संशोधन को वापस लेने पर मजबूर होने में सामने आया। जाहिर है, कि ऐसे आन्दोलनों से ही इंक़लाब नहीं हो सकता है लेकिन यह साम्राज्यवादी शासक वर्ग के लिए काफ़ी सिरदर्द पैदा करेगा और उसे कमज़ोर करेगा और विश्व की जनता की साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी लड़ाई में भारी योगदान करेगा।

शिक्षा जगत में

उन्हें प्रेमचन्द और पाश ख़तरनाक लगते हैं...

● तपिश

एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकों पर विवाद एक बार फिर उठ खड़ा हुआ है। इस बार विवाद के केन्द्र में कक्षा ग्यारह की साहित्य की पुस्तकें हैं। पिछली बार पाठ्यपुस्तकों पर उठा विवाद पाठकों को यादा होगा। पूरा मीडिया और संचार तंत्र इन विवादों को 'विभिन्न पार्टियों की आपसी दलगत राजनीति' का परिणाम कह कर प्रचारित-प्रसारित कर रहा है। लेकिन यह एक सतही बात है और असल में यह सच्चाई पर पर पर्दा डालने का काम करती है। इस ख़तरे को देखते हुए कि पाठक कहीं इस लेख को एन.सी.ई.आर.टी. के पक्ष में लिखा गया न समझ लें, मैं यह पहले ही स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि ऐसा नहीं है।

असल बात तो यह है कि पूँजीवादी राज्य की कोई भी संस्था कभी भी मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत साहित्य का प्रचार कर ही नहीं सकती या सिर्फ़ उस हद तक कर सकती है जिस हद तक उसके लिए फ़ायदेमन्द हो। और इस बार ठीक यही हुआ। लेकिन विवाद के विस्तार में जाने से पहले प्रसंगांतर करते हुए मैं आपका ध्यान एक परिधिगत प्रतीत होने वाले मुद्दे की ओर खींचना चाहूँगा।

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज़ में 'प्रोपेगैण्डा' शब्द का उल्लेख करते हुए आधुनिक राजनीतिविज्ञान और संचार तंत्र के संस्थापक कहे जाने वाले श्री हैरॉल्ड लॉसवेल ने बड़ी निर्लज्ज साफ़गोई के साथ लिखा है कि "...हमारे पास ऐसे साधन हैं जिनसे जनता के दिमाग़ को कुशलतापूर्वक अनुशासित किया जा सकता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे कि फौज अपने जवानों के शरीर को केवल हुक्म बजाने और जंग लड़ने के लिए ढालती है...उनपर उनके कार्यस्थल पर ही लगाम लगाने की ज़रूरत है। उन्हें राजनीति से दूर रखे जाने की ज़रूरत है।" वे इस बात को नहीं समझ सकते कि मुट्ठी भर मालदारों को बहुसँख्य आबादी से बचाना ज़रूरी है।

उपरोक्त "सच्चाई" की रोशनी में आइये अब देखें कि विवाद के केन्द्र में कौन सी रचनाएँ थीं और हमारे सत्ताधारियों को यह क्यों ख़तरनाक लगीं।

प्रेमचंद की कहानी 'दूध का दाम' के बारे में कहा गया कि इससे बच्चों के दिमाग़ में घृणा पैदा होगी। इस कहानी में एक दलित स्त्री भूंगी गाँव के ज़मींदार बाबू महेशनाथ के बच्चे को अपना दूध पिलाकर बड़ा करती है। इस प्रतीक के जरिये प्रेमचन्द ने बताया है कि किस प्रकार शोषित वर्ग अपना दूध, खून और श्रम देकर शोषकों को पालता है। भूंगी ज़मींदार का परनाला साफ़ करते वक्त मारी जाती है और मंगल अनाथ रह जाता है। अमानवीयता और पाखण्ड की हद तब होती है जब मंगल बाबू साहब के बेटे को छू लेता है और जुर्म के लिए उसे घर से भगा दिया जाता है। प्रेमचन्द की यह कहानी शोषण की व्यवस्था के विरुद्ध घृणा पैदा करने वाली एक सशक्त कहानी है। आखिर हमारे राजनेता क्यों चाहते हैं कि किशोर शोषण को घृणा की दृष्टि से न देखें?

प्रसिद्ध पंजाबी कवि अवतार सिंह पाश की कविता 'सबसे ख़तरनाक' को राष्ट्रवाद के लिए ख़तरनाक बताया गया है! पाश की यह कविता कुछ इस प्रकार है–

सबसे ख़तरनाक होता है/मुर्दा शांति से भर जाना/न होना तड़प का सब सहन कर जाना/घर से निकलना काम पर/और काम से लौटकर घर जाना/सबसे ख़तरनाक होता है/हमारे सपनों का मर जाना...

हमारे सांसदों की आपत्ति ठीक ही है! यदि लोग वाकई सपने देखने लगे तब? अगर वे किसी ऐसी दुनिया के सपने देखने लगे जिसमें बराबरी हो, लूट न हो, अन्याय न हो, अमन और खुशहाली हो, तब? तब तो गड़बड़ हो जाएगी! ऐसा साहित्य तो वाकई सत्ता और व्यवस्था के लिए ख़तरनाक साबित होगा!

यूँ तो इस फेहरिस्त में और बहुत सी रचनाएँ शामिल हैं लेकिन पूरे विवाद को इन दो प्रतिनिधि उदाहरणों से समझा जा सकता है। सबसे मज़ेदार बात यह थी, और इस बात पर उन लोगों को विशेष ध्यान देना चाहिए जो एक संसदीय पार्टी को दूसरी से बेहतर बताते हैं, कि भाजपा, कांग्रेस, संसदीय वामपंथी, समाजवादी सभी एक सुर में इन जनपक्षधर रचनाओं को किशोरों को पढ़ाया जाना 'ख़तरनाक' बता रहे थे! यह तथ्य ही बता देता है कि ये सब चुनावबाज़ नौटंकीबाज़ एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं जिन्हें सहज न्यायबोध और अन्याय के प्रति नफ़रत पैदा करने वाली चीज़ें ख़तरनाक लगती हैं।